यूं ही बेसबब...

By Santosh Jha

**

Copyright 2017 Santosh Jha

Smashwords Edition

**

A Big Thanks... You have already enjoyed 32 of my eBooks. They all, be it fiction or non-fiction, have been my humble endeavor to empower your consciousness for life-living wellness and personal excellence. This 33rd eBook is also aimed at continuing to write on the core issues of *3Cs – Consciousness, Cognition and Causality*, as I stick to my belief that holistic, integrative and assimilative knowledge of the 3Cs alone can open the doors of wellness and excellence in a world of chaos, conflict and confusion, we live in. There is nothing better than living a self-aware life with poise of purpose...

**

License Notes

Thank you for downloading this free eBook. Although this is a free eBook, it remains the copyrighted property of the author, and may not be reproduced, copied and distributed for commercial or non-commercial purposes. Thanks for your support.

**

प्रस्तावना

बेवजह, बेसबब भी, कुछ होने की स्थिति को स्वीकारना आसान नहीं होता। अपनी खुदी की अवश्यमभाविता व सतत् उपयोगिता की बदगुमानी अवचेतन में इतने गहरे बसी है कि बेखुदी, बेसबब ही घबराहट पैदा कर देती है। यूं तो अपना वजूद ही दुनिया का सबसे व्यापक भ्रम माने जाने की हमारी विस्तृत परंपरा रही है, और अब विज्ञान भी इसकी पुष्टि करता है, फिर भी, मैं-बोध की असीम दुविधा के बावजूद भी, बेसबब व बेखुदी की आमदगी से हम सब असहज से रहते हैं। अमूमन, इसे फिलासफी या शेरो-शायरी करार दे कर, इसे यथार्थ से परे मान कर, तवज्जो नहीं देते।

सबब, यानि वजह का अवैकल्पिक होना, या यूं कहें कि बेसबब को, स्वीकारना कठिन इसलिए भी है कि इंसानी दिमाग, जो हमारी चेतना का मूल मैकेनिज्म है, निश्चित तौर पर एक एक्शनेबल, यानि क्रिया-प्रधान व्यवस्था है। इंसानी चेतना मूलतः प्रतिक्रियावादी, *रियैक्शिनरी* है। इसलिए, जब किसी भी चीज की स्थिति बेसबब बन पड़ती है, तो हम सब के लिए उसकी स्वीकार्यता कठिन हो जाती है।

इस किताब के लेखन में, जो भी भाव, चेतना व अभिव्यक्ति है, उसे बेसबब का दर्जा देने का कोई सबब या कारण जानबूझ कर नहीं किया गया है। वह सब *यूं ही बेसबब* ही हुआ है। ऐसा क्यूं? यही तो आपसे विनयपूर्वक गुजारिश है। जो बेसबब हो, उसका सबब ही क्या...!

हां, चंद पलों के लिए ही सही, अगर चेतना व बोधत्व की पारंपरिक स्वीकार्यता से इतर कोई प्रज्ञता या प्रतीति आकार पा सके, तो फिर जो खूबसूरत सिलसिला निकल पड़ेगा, वही संभवतः इस किताब में दिख पड़े। हां, जो सबबी तौर पर दिखाने की कोशिश की गई है, वह है 'स्त्री-भाव' में लेखन...!

कहते हैं, सिर्फ हम इंसानों को ही अच्छे वक्त का इंतजार नहीं रहता, बल्कि वक्त को भी अच्छे इंसानों का इंतजार रहता है जो भविष्य की जमीन पर अपनी चेतना-बोधत्व के बीज से, संभावनाओं की फसल उगा सकें। वैसे ही, शब्दों को भी अच्छे पाठकों का इंतजार रहता है। आप ही की राह तक रहे हैं यह चंद शब्द, *यूं ही बेसबब...*

**

हम तो अपनी ही जिंदगी की गजल के रदीफ-ओ-काफिये से उलझे बैठे हैं...!

आखिर, जिंदगी की इब्तिदा-ओ-इंतहां में फासला ही कितना है? कितना कुछ इंसान के बस में है भला? तो जो है, वह कर लिया जाये, अपने सुकून के लिए!

तो यह तय पाया कि चलो, जिंदगी की एक गजल लिखी जाये। शायद सुकून को करार आये कि कुछ न कर सके तो कम से कम जिंदगी का एहतराम तो किया!

खैर, तो हुआ यूं कि गजल लिखनी शुरु की...। बामुश्किल रदीफ को कैफ में लिया तो काफिया तंग पड़ गया। कुछ जद्दोजहद की तो काफिये को जद में लेने की जुगत बन पड़ती दिखी तो हाथों से रदीफ फिसलता नजर आया...।

कितनी शबें गुजारी तो जाकर सब कुछ ठीक होता हुआ सा लगा... शायद थक कर, खुद को ही इस बदगुमानी से रूबरू कराया कि रदीफ और काफिया सब कुछ ठीक बैठ गया सा लगता है। मगर, सुबह जब फिर से पढ़ा तो साफ दिखने लगा - रदीफ और काफिया भले ही दुरुस्त हों मगर गजल की बहर पिट रही है। अपना ही जायका खराब हुआ। मुनीर नियाजी साहब का शेर याद आया -

मैं नीम-शब आसमां की वुसअत को देखता था,

दमें-सहर जब खुमार उतरा तो मैंने देखा... तो मैंने देखा... ।

बहुत से साल बीतने पर यूं ही एक रोज यह हकीकत समझ में आ ही गई। जिंदगी की गजल लिखने के लिए जरूरी हुनर, न लफ्जों की चाहिये न ही रदीफ, काफिये और बहर की जद्दोजहद चाहिये। बस वो चाहिये जो मिलने के लिए कोशिश नहीं करनी पड़ती बल्कि तमाम कोशिशों को दरकिनार करने से यूं ही बेसबब ही मिल जाती है - वह है अपनी ही चेतना की सहजता-सुगमता-सरलता व सादगी!

यह कुछ यूं है कि आपको किसी रस्सी में पड़ी गांठ को खोलना हो। आप जितनी जोर लगाकर और जितनी ही जल्दी में उसे खोलना चाहेंगे, गांठ उतनी ही और मजबूत होती जायेगी। फिर शायद एक मुकाम के बाद खुले ही ना और रस्सी काटनी पड़ जाये। मगर, हल्के हाथों से, बेहद इत्मिनान के साथ और खुशनुमेंपन से उसे खोलेंगे तो फटाफट खुल जायेगी। आजमा कर देख लें...

गजलें जैसे लफ्जों से नहीं बनती, जज्बातों की सहजता-सुगमता-सरलता व सादगी से बनती हैं, गांठें जैसे मजबूत इरादों से नहीं खुलती बल्कि नाजुक मिजाजों से खुलती है, शायद वैसे ही हर सफलता की अपनी-अपनी अलग-अलग चाभी होती है। क्या कैसे खुलता है या बनता-संवरता है, यह तय हो जाये तो सफलता खुद-ब-खुद चली आती है। कोशिशों की वैसे अपनी अल्हदा कैफियत है!

मगर, ऐसा न जाने क्यूं लगता है कि जिंदगी की सारी ही सफलताओं के लिए चेतना की सहजता-सुगमता-सरलता, सादगी और कार्यान्वयन की खुशमिजाजी और नाजुकमिजाजी एक कामन तत्व है। बाकि

सफलताओं की चाभियां मुक्तलिफ हो सकती हैं। पता नहीं क्यूं, यह भी लगता है कि, सफलता तालों को चाभियों से खोल लेने में भले ही हो, चेतना की सहजता-सुगमता-सरलता, सादगी और कार्यान्वयन की खुशमिजाजी और नाजुकमिजाजी अपने आप में किसी सफलता की पूंजी से कमतर नहीं।

पता नहीं, बुढ़ापे में खुदा कैसी कैसी कैफियत से रूबरू करवा रहा है। हम तो खुद ही आजतक अपनी ही जिंदगी की गजल की कैफियत से उलझे बैठे हैं। यह जिंदगी की नामुराद गांठें खुलती भी तो नहीं...!

**

कोई चूक ना होने पाए...!

शब्द की अहमियत, उसकी प्रतिष्ठा, खूबसूरती, उसकी अदा, लयकारी, स्वाद, और सृजन-शक्ति से भला कौन मुतासिर ना होगा। शब्द और भाषा की इंसानी वजूद और शख्सियत में जो अहमियत है, इस को लेकर शायद ही दो राय हो।

भाषा को अदब और तहजीब का दर्जा दिया गया है। कहा गया, शब्द से बड़ा ना कोई मित्र ना ही कोई दुश्मन। शब्द अपने आप में एक समग्र संसार है। किसी शायर ने आशिकी की इंतेहां कर दी और अपने महबूब के बारे में कहा, तू मेरे अल्फाजों के बयान के तसव्वुर की आखिरी हद से भी जियादा खूबसूरत है। कमाल है...!

विद्वानों ने माना, शब्द मां समान है। मातृ-स्वरूपा! ये प्राण-ऊर्जा की वंदना है। भाव-चेतना की स्तुति है। मर्मग्यता का नाद-स्वर है। बोधित्व का प्रखर संगीत है। समग्रता का समुह-गान है...।

बहुत पहले, शब्द और भाषा की विकास यात्रा और इंसानी इवोल्यूशन में इसकी भूमिका को लेकर जिज्ञासा रही। बहुत कुछ पढ़ा और समझ पाने की कोशिश की। वैज्ञानिक नजरिए से इसे समझना बहुत सुखद है।

कहा गया है, शब्द और भाषा का विकास इंसान की सामुहिक प्रवृतियों की ही उपज है। यानी, हमारे पूर्वजों ने आपसी समझ और साथ मिल कर उत्पादकता और कार्यशीलता को बेहतर और ज्यादा प्रभावी बना पाने के लिए ही भाषा की नींव रखी थी। यह भी माना जाता है कि भाषा के विकास की वजह से ही आज इंसानों की चेतना इतनी समृद्ध हो सकी। या यूं कह लें कि इंसानी दिमाग जब एक सीमा तक विकसित हो पाया कि उसमें सामुहिकता की प्रवृतियां बोध पा सकीं, तब ही भाषा का विकास संभव हो पाया।

यह अहम है। शब्द का उद्देश्य एकल और निजी ज्ञान या व्यक्तिगत सफलता होने की अवधारणा बाद में जुड़ी। मौलिक उद्देश्य है परस्परता, यानी, म्यूचुएलिटी और कलेक्टिविटी के मूल भाव को सुनिश्चित और सुदृढ़ करना। आज भी, दुनिया भर में, भाषा की यही प्रतिष्ठा है। भाषा इंसानियत को जोड़ती है। मैं भाव को हम भाव से जोड़ती है। मैं को हम की व्यापकता और प्रतिफलता में समाहित कर सुंदर समाज और संसार की अनुशंसा करती है। इसलिए, कितनी भी समस्याएं हों, दो लोगों के बीच या दो देशों के बीच, हमेशा ही यह विश्वास बना रहता है कि बातचीत न बंद हो, क्यूं कि यह भरोसा है कि शब्द अपना जादू व कमाल दिखा ही देते हैं और परस्परता सुनिश्चित कर ही लेते हैं। यह मुकम्मलियत है शब्दों की!

बड़ा प्रश्न है। क्या हम सब, शब्द को उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप मान दे पाते हैं? क्या शब्द को बोलते-उच्चारित करते वक्त इस मातृ-स्वरूपा भाव के प्रति अपनी संपूर्ण जवाबदेही को समझते और निभा पाते हैं? क्या हमारे शब्द हमें जोड़ते हैं या उल्टा तोड़ देते हैं? क्या हमारे सम्मिलित स्वर और शब्द हमारी सामुहिकता और परस्परता को बेहतर बना पाते हैं या उसको और विचलित कर देते हैं? जवाब हर व्यक्ति तलाशे...!

कहा गया है, शब्द संभार बोलिए, शब्द के हाथ ना पांव, एक शब्द औषध करे, एक शब्द करे घाव। क्यूं भला ऐसा? शब्द तो मां है, फिर शब्द भला घाव कैसे और क्यूं कर पाते हैं? ऐसे शब्द क्यूं अब तक वजूद में हैं जिन

से घाव बन जाते हों? अल्फाजों की ये कैसी तहजीब और अदब है जो जख्म दे जाती है? क्यूं ऐसी जिद है कि वो शब्दावली जीवित रहे जिसे संभालने की नौबत आती हो?

ये प्राण-ऊर्जा की वंदना कब और क्यूं ऐसी हो गयी? भाव-चेतना की स्तुति कब और क्यूं ऐसी हो गयी? मर्मग्यता का नाद-स्वर कब और क्यूं ऐसा हो गया? बोधित्व का प्रखर संगीत कब और क्यूं ऐसा हो गया? समग्रता का समूह-गान कब और क्यूं ऐसी हो गयी? ये मातृ-स्वरूपा कब और क्यूं ऐसी हो गयी? इसे सब सामुहिकता में सोचें....

किसी ने कहा, देखो, ये औरत कितनी खूबसूरत है, इसकी ईमानदारी और निश्छलता इसके सीने मैं दूध बन कर उतर गयी है। हम सब की रगों में यही दूध प्राण-ऊर्जा बन कर प्रवाहित हो रही है। इस मातृ-स्वरूपा को नमन करने का यही एक रास्ता है कि हम सब इसकी निश्छलता और ईमानदारी के प्रति पूर्णतः जवाबदेह बने रहें।

शब्द का यही मान है। इसकी यही उचित मर्यादा है। इसकी ईमानदारी और निश्छलता पर कोई बाण या कटार ना चलने पाए। इसकी स्तुति-गान में कोई चूक ना होने पाए।

इसे हम सब को समग्रता व सामुहिकता में सुनिश्चित करना है... है न...!

**

क्यूं कोई किसी को कुछ भी समझा नहीं सकता, फिर भी हर कोई सब कुछ समझ सकता है?

सत्य संभवतः वह, जो स्वयंसिद्ध हो और उसे मनवाने की जिद व मशक्कत न करनी पड़े। मगर, सत्य वह किस काम का जिसे प्रतिपादित करने एवं उसका लोहा मनवाने की जंग और जबर न करनी पड़े! दरअसल,

हमें जिस चीज में मजा नहीं आता, उसके औचित्य व सार्थकता को हम मानना ही नहीं चाहते। और मजा तो उसी में है जिसमें खुद को सही साबित करने का सुख तो हो ही, साथ में दूसरे को गलत करार दिये जाने का बोध भी बनता हो...! आ हा हा...!

खैर, जो भी हो, बिना जोर-जबर व जंगी-जुस्तजू के यह बात कह देने में कोई बड़ा मसला नहीं दिखता कि -

कोई किसी को, कुछ भी सिखा नहीं सकता, हालांकि, हर कोई किसी से भी कुछ भी सीख सकता है।

ऐं...! ये भला क्या बात हुई...! मगर, देखा जाये, तो बात वहीं आ कर ठहरती दिखती है कि सत्य - या यूं कह लें कि सही-गलत का फर्क, अगर स्वयंसिद्ध होता, तो भला आज दुनिया में लाखों मत नहीं होते और उन मतों के मानने और मनवाने वालों में यह आपसी जंग नहीं होती! तो ऐसा स्पष्ट दिखता है कि सत्य अपने आम में अहम नहीं बन पाता। यानि सत्य अगर एक हो भी, तो भी उससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता। वजनी फर्क जिस बात से पड़ता है वह शायद वही है जो उपर कहा गया, यानि -

कोई किसी को, कुछ भी सिखा नहीं सकता, हालांकि, हर कोई किसी से भी कुछ भी सीख सकता है।

कहते हैं, अपनी बुद्धि व दूसरे का पैसा हमेशा ही ज्यादा दिखता है। तो यह समझ में आसानी से आ जाता है कि सत्य भले ही निरपेक्ष हो मगर उसकी प्रतीती, प्रज्ञता, यानि बोधत्व, यानि *कागनिटिव एक्सेप्टेंस* सापेक्ष ही होता है। तो कुल जमा मसला यही हुआ कि जो जितना, जिस रूप में, जिस नजरिये से सत्य को स्वीकार करता है, सत्य की प्रतीती वैसी ही हो जाती है। यह बात मैं आज कह रहा होउं, ऐसा नहीं है। यह हमारे विद्वान पूर्वजों ने लगभग 3000 साल पहले समझ लिया था और कह भी दिया था। यही बात आज कागनीटिव सायंस का व्यापक अध्ययन क्षेत्र है।

यह प्रतीती शब्द भी बड़ा जालिम है! प्रतीती, यानि जो है या नहीं है, उससे लेना-देना नहीं, मगर फिर भी जो स्वयं को दिखे या अहसास हो पाये वह! वाह...! इसलिए, ज्यादातर लोग, खासकर युवा कहते हैं - *परसेप्शन इज रियैलिटी*...!

तो अब आगे तर्क यह बन पड़ता हुआ सा दिखने जैसा लगने लगता है कि, इस संसार में सत्य से भी अहम व प्रभावकारी तत्व है मैं और उससे भी महत्वपूर्ण है मैं-बोध, यानि *कागनिशन*। मगर, इससे भी एक और महत्वपूर्ण बात वह है जिसकी चर्चा यहां करनी है। वह है चेतना...

चेतना, जिससे मैं का बोध बनता है, वह कोई स्थायी भाव या तत्व नहीं है। चेतना, यानि मैं का अहसास, हमारे बाहरी व भीतरी वातावरण से प्रभावित होने की वजह से नित्य व सतत् बदलता रहता है। यानि, चेतना का जो मैं-बोध है, वह स्थायी भाव नहीं है किसी भी इंसान के लिए। हम सब इंसान बदलती हुई चेतना एवं बदलते बोधत्व के साथ जीते हैं, उठते-बैठते हैं। इसलिए, हमारे लिए सत्य भी बदलते रहने को विवश हो जाता है। अगर बोधत्व को हवा या पानी जैसा तत्व मान लें तो साफ हो जाता है कि बोध को जिस किसी भी रूप में स्वीकारेंगे, वह अपने माध्यम जैसा ही स्वरूप ढाल लेगा। आपकी चेतना के अनुरूप आपके बोधत्व का स्वरूप! जैसा ग्लास, वैसी ही उसमें पानी की शक्ल व सूरत!

इसलिए, सबसे अहम बात यही है कि अपनी चेतना एवं अपने बोधत्व के इस अस्थायी स्वरूप को हम सब स्वीकारें एवं पहचानें। जैसे ही हम यह स्वीकार कर लेंगे कि हम या मैं एक स्थायी तत्व, *टैंजिबिलिटी* नहीं है, बल्कि, देश-काल-परिस्थिति के अनुसार विविध स्वरूपों में ढलने वाले भाव, *इनटैंजिबिलिटी* है, हमें समझ में आ जायेगा कि कैसे हमारे लिए कोई भी सत्य स्थायी नहीं हो पाता और कैसे एक ही जीवन के विभिन्न समयों में हम परस्पर विरोधाभाषी सत्यों के साथ जीते हैं और उसे मानते-मनवाते रहते हैं। एक बार हम-आप यह समझ जायें कि इंसान की व्यापक हिपोक्रिसी के पीछे उसकी खुद की चेतना की बनावट है, तो शायद हमारा सत्य के अन्वेषण की प्रतीति व प्रज्ञता *आब्जेक्टिव* हो पाये।

तो, ऐसा कुछ लगने जैसा महसूस होता है कि जो निरपेक्ष सत्य है, वह है -

जिसकी जैसी चेतना, वैसा ही उसका बोध और वैसी ही उसके सत्य की प्रतीती। फिर उसके ही अनुरूप उसकी नीयति!

और चेतना व बोध चूंकि कभी स्थायी नहीं होते, बदलते रहते हैं, इसलिए ही हमारा सत्य भी व्यक्तिगत होते हुए बदलता रहता है। यही *हिपोक्रिसी* का बीज-तत्व है। इसलिए ही सत्य की सापेक्षता का सिद्धांत, जीवन का मूलभूत सिद्धांत माना जाता है। सापेक्षता को स्वीकारिये, इससे हम सबको अपने सत्य के अलावा दूसरों के सत्यों को भी स्वीकारने में सुविधा होगी। सापेक्षता से करुणा भाव का जन्म होता है, जो प्रेम की पहली जरूरत है, वही बीज-तत्व है। और करुणा से जब प्रेम की लताएं चारों ओर फैलने लगेंगी, तब किसी को भी किसी भी सत्य को प्रतिपादित करने एवं मनवाने की जंग में उलझने की जरूरत नहीं महसूस होगी। ऐसे माहौल में वह सुलभ हो पायेगा, जिसकी चर्चा शुरुआत में की गई है-

किसी को भी, कुछ भी सिखा सकने की जरूरत नहीं होगी, क्यूंकि, हर कोई किसी से भी कुछ भी सीख सकने की चेतना-बोधत्व में होगा।

यही मानवता के लिए श्रेयस्कर प्रतीत होता हुआ सा दिखता है....। बाकी आप फैसला करें।

**

स्वीकारिये एक नया आध्यात्म, जो एकल चेतना-विवेक को मोक्ष-द्वार तक लायेगा

क्या है आध्यात्म...? धर्म क्या है...? आध्यात्मिक होना या धार्मिक होना क्या है...? और फिर यह मूल प्रश्न कि क्या आध्यात्मिक या धार्मिक होना हरेक इंसान की मूल जरूरत है...?

पहली बात तो यह है कि सवाल सबके लिए एक ही हैं मगर, इस संसार में जितने लोग हैं, शायद उतने ही जवाब होंगे इन प्रश्नों के। खासकर, कुछ लोग हैं, जिन्हें मान्यता मिली हुई है कि वे ही सारे सही जवाब जानते हैं! लेकिन, इतना तय है, किसी सवाल का एक ही तयशुदा जवाब है, वह है... और मेरे-आपके मानने या ना मानने से उसमें कोई परिवर्तन होने से रहा। जैसे इंसानों के तयशुदा सवाल हैं, वैसे ही इन सभी सवालों के तयशुदा सिंगुलर एवं आबजेक्टिव जवाब भी हैं।

यह एक हकीकत है कि किसी भी सवाल का जैसा जवाब कोई इंसान कबूल करता है, वह उसकी तात्कालिक चेतना पर निर्भर करता है और फिर, वही जवाब और उसका व्यापक तत्व उस इंसान की चेतना व चरित्र को परिभाषित करने लगता है।

तो अगर एक इंसान यह मानता है कि ईश्वर एक शक्ति है जो संसार की हर चीज को नियंत्रित करती है, इसलिए उसकी विविध तरह से पूजा अराधना करने से वह सारे बिगड़े काम बना देती है, तो उसकी पूरी चेतना, चरित्र व प्रकृति पूजापाठ व कर्मकांड में लिप्त हो जाती है। इतना ही नहीं, अपने हर कर्म एवं निर्णय में वह इसी चेतना के अधीन होकर अपने को व्यक्त करता रहता है। उसके लिए बाकी सारे प्रश्न भी इसी मूल जवाब के दायरे में उत्तरित होते हैं। ऐसा मानने वाला व्यक्ति कोई अपनी ईच्छा से ऐसा नहीं मानता। यह लगभग तय है कि ऐसा मानने के पीछे उसके व्यक्तित्व में बचपन से ही ऐसे मानक व तत्व बन गये होंगे कि वह कोई और जवाब कबूल ही नहीं कर पाता। अगर आप इस व्यक्ति से यह पूछें कि वह जो मानता या समझता है वह क्यूं और कैसे मानता-समझता है तो वह आपको स्पष्टतया नहीं बता पायेगा। यह सब कुछ वास्तव में उसका अपना चुनाव भी नहीं है। यह सबकुछ उसकी अर्धचेतना का किया कराया है और इन सब में उसके विवेक व चेतन मन की कोई खास भूमिका नहीं है।

मूल बात जो कहनी है, वह यह है कि हम-आप जो अपने लिए चुनते हैं या जिसे सही मानते हैं, वह हमारी चेतना के रंग पर निर्भर करता है। इसका निर्णय ज्यादातर हमारा अर्धचेतन मन करता है और अधिकांशतः

हमें इसकी खबर तक नहीं होती। फिर, हमारी चेतना भी सांयस के अनुसार सात अलग-अलग रंगों की होती है। किसी की चेतना योद्धा जैसी होगी तो किसी की संत जैसी। और इस संसार में हर चेतना की अपनी उचित भूमिका भी है। जितने जरूरी संत हैं, उतने ही योद्धा भी। भारतीय दर्शन के अनुसार चेतना के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं जो निर्भर करता है कि किसी में तीन मूल प्रकार के गुण - तमोगुण, रजोगुण व सतोगुण किस *प्रोप्रोर्शन*, यानि अनुपात में हैं। हमारी चेतना के रंग या कह ले कि इसका प्रकार बचपन से हमारे मस्तिष्क में सृजित होता है और जिन तत्वों के बीच व जैसे माहौल में हमारी परवरिश होती है, मूलतः वैसी ही हमारी चेतना हो जाती है। फिर इसी चेतना के अनुरूप हम सवाल चुनते हैं और उनके जवाब भी। विज्ञान के अनुसार हमारा माइंड, सिर्फ 15 प्रतिशत जेनेटिक तत्वों से बनता है, बाकी 85 प्रतिशत हमारे परिवेश व माहौल से बनता है।

अब मूल प्रश्न पर आयें। क्या है आध्यात्म...? धर्म क्या है...?

इंसान का मस्तिष्क उसे एक ऐसी विकट स्थिति में डालता है जो सिर्फ इंसानों को ही झेलना पड़ता है। वह है हमारी विकसित चेतना। चेतना जानवरों में भी होती है मगर उनकी चेतना इतनी विकसित नहीं होती कि उनमें स्व-बोध एक परिपक्व *सबजेक्टिव-सेल्फ* का भाव बन सके जो हम इंसानों में बन पड़ता है। इसी कारण से कई सवाल बन पड़ते हैं - हम क्या हैं? जीवन क्या है? इस विराट सृस्टि से हमारा संबंध कैसा है? हम कहां से आते हैं और कहां विलीन हो जाते हैं, आदि। यही आध्यात्म है, यही धर्म है। इंसान का अपने व्यापक परिवेश से उसके संबंधों को परिभाषित करने की, उसके तमाम प्रश्नों एवं उनके जवाब पाने की उसकी मूल व प्रकृतिप्रदत जरूरत व ललक की ही उपज है आध्यात्म और धर्म। इसलिए, कभी भी किसी सूरत भी आध्यात्म को इंसान अपने जीवन से निकाल नहीं सकता, भले ही वह धर्म की जरूरत से धीरे-धीरे विमुख होता जाये। आज आधुनिक जीवन में जब धर्म से संबंधित लगभग सभी तत्व एक पढ़े-लिखे एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले इंसान को अतार्किक व अप्रभावकारी लगे, फिर भी, उसकी आध्यात्म की जरूरत कम नहीं होगी क्यूं कि उसके मूल व प्रकृतिप्रदत प्रश्नों के उत्तर उसे चाहिए ही होंगे। इसलिए,

विज्ञान भी मानता है कि पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए हर इंसान को आध्यात्मिकता से जुड़ा होना ही चाहिए। अपनी मूल जरूरत से विमुख होकर इंसान कभी सफल व सुव्यवस्थित नहीं हो सकता।

यह तय है कि आध्यात्म हमारी मूल जरूरत है मगर हमारे प्रश्नों के वो जवाब अब आध्यात्म के पास भी नहीं हैं जो *सिंगुलर व आब्जेक्टिव* है और सबके लिए एक ही हैं, चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाला हो। ऐसा सभी मानने लगे हैं कि आने वाले सौ सालों में धर्म का स्थान एक ऐसा आध्यात्म लेगा जिसके पास जीवन के सभी मूल प्रश्नों के सिंगुलर व आब्जेक्टिव जवाब होंगे। तो भला यह नया आध्यात्म कैसा होगा?

नया आध्यात्म जीवन के प्रश्नों से पहले उन मूल प्रश्नों के उत्तर देगा जिन्हें समझने के बाद ही किसी और यथार्थ को समझ पाना संभव होता है। नया आध्यात्म हम सबको यह बताने में समर्थ होगा कि अब तक जो हम सब समझते आये थे, उनमें क्या कमियां थीं और उसकी वजह से हम सब क्यों उलझे हुए से थे। नया आध्यात्म यह सफलतापूर्वक बतायेगा कि इंसान की चेतना क्या है, यह कैसे बनती बिगड़ती है, उसके रंग व प्रकार कैसे निर्धारित होते हैं और क्यों हम सब अपने आसपास के चीजों व जीवन को वैसे समझते हैं जैसा हम समझते रहे हैं। नया आध्यात्म हमें तार्किक तौर पर बतायेगा कि हम इंसानों की मूल समस्या कहां और क्यों है? क्यों हममें इतना द्वंद्व है? क्यों हम इतने उलझे हुए व उद्वेलित रहते हैं। नया आध्यात्म हमारे सभी प्रश्नों के तार्किक, एकल व प्रामाणिक उत्तर देगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि इंसान के मूल *डीएनए* से निकलेगा यह नया आध्यात्म एवं इसकी सिंगुलर व आब्जेक्टिव अवधारणाएं विज्ञान की उस समझ से स्थापित होंगी जो सबके लिए एकल ही हो सकेंगी। मूल प्रश्नों के प्रारूप बदल जायेंगे। नये सवाल होंगे कि हम जो अपने बारे में या पूरे परिवेश के बारे में सोचते-समझते हैं वह क्यूं और कैसे होता है। इसकी पूर्णतः वैज्ञानिक परिभाषा व मानक होंगे। जैसे, अगर किसी को हवाई जहाज उड़ाना हो तो वह विज्ञान की *एविएशन* संबंधी सिंगुलर व आब्जेक्टिव सिद्धांत से ही संभव

होगा। चाह कर भी अलग-अलग लोग अलग-अलग सिद्धांत के आधार पर हवाई जहाज नहीं उड़ा सकते। वैसे ही जीवन के सारे प्रश्नों के एकल व प्रामाणिक उत्तर होंगे।

आज चाहे वह धर्म हो, आध्यात्म हो, जीवन संबंधी कई मूल प्रश्न हों या फिर खुद को ही समझने का ज्ञान हो, हर इंसान विभिन्न सिद्धांतों के तहत अपने-अपने जवाब तलाशता है और उसी के आधार पर अपनी चेतना व विवेक, यानि सही-गलत का मानक निर्धारित करता है। इसलिए ही विश्व में इतने प्रकार की आपस में टकराव व प्रतिस्पर्धा रखने वाली अवधारणाएं हो गयी हैं। यही मानव समाज का सबसे बड़ा संकट है और आज के धर्म व आध्यात्म दोनों ही इस टकराव को और हवा दे रहे हैं। सही कोई भी नहीं है मगर दूसरे को गलत साबित करने के लिए किसी भी हद तक जाने की जिद आज मानवता का खात्मा करने के कगार पर है।

नया आध्यात्म इन सबसे उपर उठ कर सिंगुलर व आब्जेक्टिव जीवन-सिद्धांत को स्थापित कर मानव समाज को एकल सोच, एकल विवेक व एकल चेतना के द्वार तक लायेगा। यही हम सबके लिए सही मायनों में मोक्ष होगा।

नयी सहस्त्राब्दी मानवता के लिए नयी सोच एवं मानक ले कर आयी है। विश्व में कुछ बेहद सार्थक सोच बन रही है। ऐसा देख-समझ पाना आसान नहीं है। आधुनिक पापुलर संस्कृति में जहां चारो ओर उपभोग, बाजार, निवेश, रियलस्टेट, शेयरबाजार और अर्थतंत्र के अलावा सिर्फ राजनीतिक शोर ही सुनाई पड़ती है, वहीं कुछ बेहद संजीदा और समर्थ लोगों का छोटा सुमह ही सही, चुपचाप कुछ मूल सोच व चिंतन में लगा हुआ रहा है। उनका काम अब सामने आने लगा है।

यह मूल विषय हैं - चेतना, इंसान का मूल स्वभाव, उसकी चेतना-प्रक्रिया का उसके पर्यावरण व सामाजिक-सांस्कृतिक सोच पर असर आदि। विज्ञान ने मानवीय चेतना और उसके मूल स्वभाव को नये प्रारूप में समझने में मदद की है। आज इंसानी चेतना एवं मूलतः आदिचेतना को समझ पाने का बिलकुल नया व

विश्वसनीय तरीका बन पड़ रहा है। हजारों सालों से हम जो स्वयं एवं अपनी शख्शिसयत को समझते रहे हैं, उससे बेहद भिन्न है आधुनिक चेतना-प्रणाली। इस नयी सोच ने कई मूल प्रश्नों के नये आयाम जोड़े हैं और उनके जवाब भी इंसानी समाज की कई पापुलर अवधारणाओं को नकारने का अवसर बना रहे हैं। इसका कारण है इंसानी मस्तिष्क की कार्यप्रणाली की बेहतर समझ।

वर्तमान मानवीय समाज एवं संस्कृतियों की जो मौजूदा समस्याएं एवं दुविधाएं हैं, वे सब एकबारगी खत्म होती दिखेंगी अगर हम सब इस नयी सोच के तहत चेतना एवं चेतना से जुड़े आयामों की पड़ताल करेंगे। मैंने अपनी सभी 32 किताबों में, चाहे वह फिक्शन हो या नानफिक्शन, इस नयी सोच एवं चेतना के नये आयामों के बारे में लिखा है। यह सारी किताबें ईबुक फारमैट में हैं और फ्री हैं।

नयी सहस्त्राब्दी की नयी सोच *कल्चरल इवोल्यूशन* का एक नया मानक भी दे रही है। यह नयी सोच यह कह रही है कि अब तक जो भी इवोल्यूशन हुआ, या जो विकास क्रम बन पड़ा है, वह *एक्सीडेन्टल* था, यानि वह हो गया। मगर, अब इंसान इतना सक्षम जरूर है कि भविष्य में जो भी गुणात्मक बदलाव होने हैं, उन्हें *प्लानिंग* करके समाज में स्थापित किया जा सकेगा। इस प्लानिंग की मूल रूपरेखा तैयार करेगा वैज्ञानिक तकनीक की इंसानी क्षमता। इस नये योजनाबद्ध सांस्कृतिक विकास का आधार बनेगी इंसान के दिमाग को लेकर नयी वैज्ञानिक समझ। हम आज इंसानों के व्यवहार की बेहतर समझ रख रहे हैं और इसलिए उसकी चेतना को लेकर जो तमाम अनसुलझे पक्ष थे, उनकी भी हमं आज बेहतर जानकारी है।

बेहद साधारण सी, सहज-सरल-सुगम सी बात है, समझ लेने से आगे की चर्चा को आत्मसात करने में सुविधा होगी। हम इंसानों की सोच, व्यवहार एवं इन दोनों के मिश्रण से बनी हमारी सभ्यता-संस्कृति तीन मूल अवधारणाओं, या यूं कह ले कि स्वीकृति पर आधारित हैं। वह तीन मूल तत्व हैं - चेतना, बोधस्वीकार्यता तथा कारकसंबंध, जिन्हें अंग्रेजी में '3सी' कहते हैं, यानि - *कानसियसनेस, कागनिशन* और *काउजैलिटी*। अबतक जो हमारी संस्कृति रही है, उसकी समस्याएं इन तीनों ही अवधारणाओं की

दोषपूर्ण या एकपक्षीय समझ को लेकर रही है। हम आज इन तीनों ही तत्वों को वैज्ञानिक ज्ञान की वजह से पूर्णता एवं परिपक्वता में समझ सकने की काबिलियत पा चुके हैं। हम कौन हैं, जैसे हैं, वैसे क्यूं हैं, हम जो देख-समझ पाते हैं, यानि हमारी जो बोधव्यवस्था है, वह क्या व क्यूं है, जैसा दिखता-समझा जाता रहा है, वैसा है या उससे कुछ बेहद अलग है, जीवों तथा प्रकृतितत्वों के बीच क्या और कैसा संबंध व परस्परता है और इन सभी का पृथ्वी पर हम सबकी सोच-समझ पर व जीवनप्रक्रिया पर कैसा प्रभाव है, आदि मूल प्रश्नों के सार्थक, सही व सुनिश्चित जवाब आज हमारे पास आने लगे हैं। इस नयी समझ व जानकारी ने ही हमारी अब तक की पूरी सभ्यता-संस्कृति की अवधारणा को पुनः परिभाषित करने की जरूरत महसूस करायी है।

इसी नये ज्ञान के आलोक में यह बात निकली है कि अबतक का हमारा सांस्कृतिक विकास *एक्सीडेंटल* रहा है, जिसे अब दुरुस्त करना है, एक बेहद प्लान्ड व सुनियोजित तरीके से। बस, बात इतनी सी ही है। इस मूल *हाईपोथेसिस* को अगर हम-आप स्वीकार लेते हैं, तो हम सब जीवन व जीवन संबंधी सभी सोच व अवधारणाओं पर आत्मचिंतन के लिए तैयार हो पाते हैं। यही आज वक्त की सबसे जरूरी मांग है। यही सबसे अहम सांस्कृतिक चुनौती भी है। हम जितनी तेजी व सुगमता से इस नये ज्ञान को आत्मसात करके बदलाव के लिए राजी हो जायेंगे, उतनी ही संभावनाएं बढ़ेंगी आधुनिक इंसानी समाज की समस्याओं को दूर करने की। यही नया ज्ञान हम सब के लिए नये आध्यात्म का आाधार भी बनेगी।

**

मुस्कुराएं, कि लीला के रंग बरसते हैं

सालों पहले, जब बेखुदी लुभाती थी, यूं ही लिख गया था, रंगो-ओ-बू से ऊपर उठती नही ये फितरत, कोई कहता की ये धुआं कहां से उठता है। यही मूल द्वंद है इस नश्वर जीवन का।

द्वंद को समझने और समझाने में, गीता जैसा कोई महान माध्यम शायद ही हो। अगर समझा जा सके तो ये *साइंटिफिक पोजिशनिंग* के बेहद करीब है। गीता की सबसे बड़ी उपलब्धि है *सब्जेक्ट* यानि कर्ता को परिभाषित कर पाना। साइन्स भी आज इसी सब्जेक्ट या सेल्फ और चेतना को समझने में लगा है। अगर सब्जेक्ट की अवधारणा समझ लीजिए तो सब आसान हो जाता है और फिर द्वंद मिट जाता है। तब आप ईश्वरमय हो सकते हैं, सच्चे मायनों में प्रेम कर सकते हैं और यह ईश्वर-तत्व और प्रेमतत्व इंसानियत का सबसे आइडियल बेंचमार्क है। जब तक हम मूल कर्ता के मेकेनिज्म को नहीं समझेंगे, प्रेम को समझ पाना व कर पाना बेमानी ही होगा।

जरा रुक कर समझिए। इस नश्वर संसार में आप ज्यादातर जो भी बुरा देखते हैं, उसका लेना देना शायद इसी बात से है की हम सब लोग सब्जेक्ट यानी सेल्फ, या यूं कह लें कि सही कर्ताभाव को समझ नही पाते और इसीलिए चारो और सिर्फ हिपोक्रिसी और *सिनिसिजम* दिखता है। इसलिए गीता का महत्व है, सिर्फ एक विशुद्ध धर्मग्रंथ की तरह ही नहीं, बल्कि एक बेहद समृद्ध वैचारिक परंपरा की तरह भी। इसके महत्व को समझ पाना बेहद मुश्किल है- गीता भी और साइन्स का *डेफिनीशन* भी। कोशिश करता हूं।

एक छोटा सा *मेटाफर* है जो प्रेम के संदर्भ में अक्सर इस्तेमाल होता है। एक मधुमक्खी उड़ रही है, उसको एक फूल दिखता है और वो उस फूल पर उतर कर उसका रस पीने लगता है। जो भाषा हम सबने सीखी है, उसके हिसाब से, मधुमक्खी सब्जेक्ट है, फूल आब्जेक्ट है और रस पीना क्रिया है। साइन्स का अप्रोच अलग है, यही लगभग गीता भी कहती है।

साइंटिफिक हाइपोथेसिस है कि फूल में जो खुशबू और रंग है, वो *सब्जेक्ट* है क्यूं कि इसी ने एक्शन के लिए एनर्जी डाइरेक्ट की है। और, मधुमक्खी आब्जेक्ट है क्यूं कि एक्शन उसी पर हो रहा है। मधुमक्खी का उस फूल पर उतरने का निर्णय क्रिया है क्यूं कि *कान्शियस* या *इनट्यूटिव वैल्यू-समेशन*, या कह लें कि निर्णय ही असली एक्शन है।

Thank You for previewing this eBook

You can read the full version of this eBook in different formats:

- HTML (Free /Available to everyone)
- PDF / TXT (Available to V.I.P. members. Free Standard members can access up to 5 PDF/TXT eBooks per month each month)
- Epub & Mobipocket (Exclusive to V.I.P. members)

To download this full book, simply select the format you desire below

Free-Ebooks.net